

## ग्रामीण भारत की राजनीतिक संस्कृति : दृष्टि एवं विमर्श

गिरीश चन्द पाण्डेय<sup>1</sup>

<sup>1</sup>अध्यक्ष, राजनीतिशास्त्र विभाग, श्री देवानन्द स्नातकोत्तर महाविद्यालय मठलार, देवरिया, उ०प्र०, भारत

### ABSTRACT

भारत गाँवों का देश है। इसकी अधिकांश आबादी गाँवों में निवास करती है। हजारों साल पुरानी सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक परम्परा का सच्चा प्रतिनिधित्व भारत के यही गाँव करते हैं। यदि किसी को असली भारत का दर्शन करना हो तो उसे इन्हीं गाँवों की यात्रा करनी चाहिए, क्योंकि असली भारत और उसकी आत्मा इन्हीं गाँवों में बसती है। भारतीय लोकतांत्रिक व्यवस्था की गतिशीलता, प्रासंगिकता और सम्भावनाएं इसी ग्रामीण समाज में बन रही, पल रही, चल रही और संपुष्ट हो रही राजनीतिक संस्कृति से निर्देशित होती है। राजनीतिक संस्कृति समाज की राजनीति और संस्कृति के पारस्परिक सम्बन्धों के आधार पर विकसित एक ऐसी अवधारणा है, जिसका सीधा सम्बन्ध समाज में प्रचलित राजनीतिक पद्धति और राजनीतिक सवालों से होता है। राजनीतिक संस्कृति किसी निश्चित राज्य के भीतर निवास करने वाले लोगों की उस सामूहिक अन्तर्भावनाओं का नाम है, जिन्हें राजनीतिक व्यवस्था की प्रतिक्रियाओं के रूप में व्यक्त किया जाता है। (त्रिपाठी, 2003, 65) राजनीतिक संस्कृति एक ऐसा मानदण्ड है, जिसके द्वारा सरकार क्या है, यह कैसे कार्य करती है, इसे किस तरह कार्य करना चाहिए, सरकार को किस प्रकार का होना चाहिए तथा सरकार के कार्यों में आमजन को किस तरह सहभागी बनाया जा सकता है आदि प्रश्नों के सम्बन्ध में संज्ञानात्मक दृष्टिकोण का बोध होता है। इससे यह पता चलता है कि राष्ट्र एवं राजनीतिक व्यवस्था के प्रति जनसाधारण की क्या सोच है तथा वे अपने स्व के विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक राजनीतिक उपादानों यथा स्वतंत्रता, समानता, अधिकार एवं दायित्व आदि के प्रति कितने सजग और जागरूक हैं। प्रस्तुत शोध पत्र में भारत की आत्मा को उसकी राजनीतिक संस्कृति के सन्दर्भ में समझने का प्रयास किया गया है।

**KEYWORDS:** ग्रामीण भारत, संस्कृति, राजनीतिक संस्कृति

राजनीतिक संस्कृति समाज की राजनीति और संस्कृति के पारस्परिक सम्बन्धों के आधार पर विकसित एक ऐसी अवधारणा है, जिसका सीधा सम्बन्ध समाज में प्रचलित राजनीतिक पद्धति और राजनीतिक सवालों से होता है। राजनीतिक संस्कृति किसी निश्चित राज्य के भीतर निवास करने वाले लोगों की उस सामूहिक अन्तर्भावनाओं का नाम है, जिन्हें राजनीतिक व्यवस्था की प्रतिक्रियाओं के रूप में व्यक्त किया जाता है। (त्रिपाठी, 2003, 65) राजनीतिक संस्कृति एक ऐसा मानदण्ड है, जिसके द्वारा सरकार क्या है, यह कैसे कार्य करती है, इसे किस तरह कार्य करना चाहिए, सरकार को किस प्रकार का होना चाहिए तथा सरकार के कार्यों में आमजन को किस तरह सहभागी बनाया जा सकता है आदि प्रश्नों के सम्बन्ध में संज्ञानात्मक दृष्टिकोण का बोध होता है। इससे यह पता चलता है कि राष्ट्र एवं राजनीतिक व्यवस्था के प्रति जनसाधारण की क्या सोच है तथा वे अपने स्व के विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक राजनीतिक उपादानों यथा स्वतंत्रता, समानता, अधिकार एवं दायित्व आदि के प्रति कितने सजग और जागरूक हैं।

ग्रामीण भारत की राजनीतिक संस्कृति का प्रारम्भ वैदिक युग में कृषि व्यवस्था के आधार पर आर्यों के द्वारा किया गया था, जिसे भारत की आदि संस्कृति के रूप में मान्यता प्राप्त है। परन्तु आगे चलकर यह संस्कृति विदेशी आक्रमणों के कारण अत्यन्त क्षीण हो गयी तथा इसका जीर्ण-शीर्ण अवशेष जातीय

पंचायतों में किसी तरह अपने को बचाये रखा। ग्रामीण राजनीतिक संस्कृति के पुनर्भाव की पृष्ठभूमि उस समय तैयार हुई, जब पहली बार महात्मा गाँधी के नेतृत्व में कांग्रेसियों के द्वारा गाँव के लोगों में राजनीतिक चेतना उत्पन्न करने की पहल की गयी। गाँधी जी ने राजनीति के क्षेत्र में जिस सत्याग्रह की खोज की, जिस सत्य और अहिंसा की राजनीति को व्यवहारिकता के धरातल पर उतारने का भगीरथ प्रयास किया तथा किसी भी तरह के लूट, जुर्म, शोषण, अन्याय एवं अत्याचार के विरुद्ध प्रतिकार करने की जो अद्भुत शैली अपनायी वह निश्चित रूप से ब्रिटिश संसदीय शैली से अनुपम एवं उच्चतर थी। वास्तव में गाँधी जी की इस शैली में ग्रामीण भारत की राजनीतिक संस्कृति मुखरित हो रही थी और अपनी सुन्दर अभिव्यक्ति पा रही थी। गाँधी जी ने राजनीतिक संस्कृति के जिन मूल्यों एवं मानकों का विकास किया उन्हें लोकप्रिय बनाने की पहल की उसी के फलस्वरूप भारतीय राजनीति में नैतिक मूल्यों एवं चारित्रिक आदर्शों की स्थापना सम्भव हो सकी और राजनीतिक नेतृत्व के अन्तर्गमन में समाज सेवा तथा राष्ट्र निर्माण के लिए सब कुछ लुटा देने की प्रवृत्ति प्रबल हो उठी। शायद यही कारण था कि महात्मा गाँधी ने ग्रामीण भारत की राजनीतिक संस्कृति के महत्व को समझते हुए कहा कि असली भारत गाँवों में रहता है और मैं एक ऐसे भारत के लिए कार्य करना चाहता हूँ, जिसमें निवास करने वाला सबसे निर्धन व्यक्ति भी यह महसूस करे कि यही वह देश है, जिसकी रचना, सृजन, निर्माण और विकास में उसकी भी आवाज सुनी जाती है, जिसमें

न कोई बड़ा है और न कोई छोटा। यहाँ सभी जाति, धर्म, भाषा और क्षेत्र के लोग सद्भाव और सामंजस्य पूर्वक रहते हैं।" (इण्डिया, सितम्बर 1993)

स्वतंत्रता के पश्चात लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा को अंगीकार करने एवं समाजवादी लोकतांत्रिक व्यवस्था की स्थापना करने के प्रति संकल्पित देश की प्रथम पंचवर्षीय योजना से लेकर आज तक शासन की विभिन्न योजनाओं के माध्यम से ग्रामीणों को आत्मनिर्भर एवं शोषण मुक्त करने की पहल सम्भवतः गाँधी जी के सपनों को साकार करने का प्रयास है। प्रजातांत्रिक प्रतिनिधि संस्थाओं के माध्यम से ग्रामीण जनता को शासकीय क्रियाओं के संचालन के विविध स्तरों पर सहभागी बनाने का अनवरत और गम्भीर प्रयास किया जा रहा है। इनका ग्रामीण समाज के विकास में कारगर उपयोग किया जा सके, इसके लिए ग्रामीण राजनीतिक व्यवस्था में लोकतांत्रिक संस्थाओं के निर्माण एवं संचालन में ग्रामीणों की राजनीतिक सहभागिता को अधिक से अधिक व्यापक एवं प्रभावी बनाने के लिए समय-समय पर विभिन्न समितियों एवं आयोगों का गठन करके उसके द्वारा दिये गये सुझावों के अनुसार सुधार के कार्य भी किये जा रहे हैं। लेकिन अफसोस, अनेक उपायों के बावजूद भी अपेक्षित परिणाम प्राप्त नहीं हो पा रहा है। ग्रामीण राजनीतिक चेतना दिन प्रतिदिन दिशाहीन होती जा रही है।

भारतीय ग्रामीण समाज का दुर्भाग्य यह है कि सरकार के द्वारा विभिन्न नीतियों और योजनाओं के माध्यम से जनता की राजनीतिक सहभागिता को जितना ही अधिक कारगर और व्यापक बनाने का प्रयास किया जा रहा है, उतना ही ग्रामीण जनता की पहुँच विकास की प्रक्रिया के परिचालन और उसकी उपलब्धियों से दूर होती जा रही है। लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया को जितना ही व्यापक बनाया जा रहा है, उतना ही समाज एवं राजनीति को सही दिशा देने वाला प्रबुद्ध वर्ग, समाजसेवी वर्ग एवं वास्तविक गरीब वर्ग राजनीति से विमुख होता जा रहा है। शासकीय व्यवस्था के परिचालन में राज्य की नियन्त्रणकारी शक्ति में वृद्धि हो रही है। जनसहमति का स्थान शासकीय शक्ति ने ले लिया है। नवधनाढ्य वर्ग तथाकथित राजनीतिक बुद्धिजीवियों के साथ मिलकर नागरिकों में जातिवाद, सम्प्रदायवाद, क्षेत्रवाद एवं उग्र स्वार्थवाद फैलाकर राजनीतिक जड़ता एवं भ्रान्तिपूर्ण राजनीतिक चेतना को प्रोत्साहित कर रहा है। राजनीतिक बहस एवं राजनीतिक जागरूकता के प्रदर्शन का प्रमुख केन्द्र आज लोकतांत्रिक संस्थाएं न होकर चट्टी चौराहे और वहाँ स्थित चाय-पान की दुकानें हो गयी हैं। बुद्धिजीवियों और समाजसेवियों की राजनीतिक उदासीनता के कारण राजनीतिक दबंगों के रूप में जननेताओं का एक नया वर्ग प्रमुखता से हावी होता जा रहा है, जिसके लिए राजनीतिक संस्थाओं का प्रतिनिधित्व करने का एक मात्र उद्देश्य अपने धिनौने और समाज विरोधी कुकृत्यों पर पर्दा डालना होता है। जनता के दुःख-दर्द से इनका कुछ भी लेना-देना नहीं होता है। यही लोग ग्राम पंचायत से लेकर देश की संसद तक के निर्वाचन की सम्पूर्ण राजनीतिक प्रक्रिया पर एकाधिकार स्थापित

किये हुए हैं। जिससे राजनीतिक व्यवस्था का संवैधानिक स्वरूप विकृत हो गया है और जो ग्रामीण भारत की राजनीतिक संस्कृति के नवीन संस्करण का स्थान लेता जा रहा है।

वास्तव में वोट की राजनीति ने आम जनता को जिस प्रकार से जातीय और साम्प्रदायिक चेतना प्रदान की है, वोट लेने-देने के जो हुनर और पैतरे सिखाये हैं, वैमनस्य और कटुता प्रदान की है। ये सभी कारक आज नेतृत्व की राजनीतिक चेतना को गहराई से प्रभावित कर रहे हैं। इस राजनीतिक चेतना में न तो आर्थिक विकास का एजेण्डा है और न ही सामाजिक समरसता की चिन्ता और न ही राजनीतिक व्यवहार में परिपक्वता का विम्ब ही इसमें दिखाई पड़ता है। वोट लेने-देने के व्यापार ने गाँवों में ऐसा वातावरण निर्मित कर दिया है, जिसमें छल-कपट, झूठ, फरेब, चालाकी, धूर्तता, गाली-गलौज और हथियारबन्द हिंसा में निपुण होना सशक्त राजनीतिक नेतृत्व की पहचान बन गयी है। लेखपाल से लेकर प्रधान तक, छुटभैये राजनीतिक दलों के कार्यकर्ता से लेकर विधायक और सांसद तक तथा चौकीदार से लेकर पुलिस के कप्तान तक के कार्य व्यवहार की जो राजनीतिक संस्कृति विकसित हुई है उसमें ग्रामीण भारत की न्याय, नैतिकता और इमानदार संस्कृति की तस्वीर धुँधली पड़ गयी है। (शर्मा, 1997, 04)

आज हर जाति और साम्प्रदाय की अपनी-अपनी राजनीति और संघर्ष के मुद्दे हैं। इन मुद्दों को धार देने वाला अलग-अलग नेतृत्व है, जिसका सरोकार राष्ट्रीय चेतना की प्रखरता एवं विकास न होकर अपनी व्यक्तिगत आकांक्षा और स्वार्थपरता है, जो ग्रामीण विकास की आवश्यकता को सर्वथा उपेक्षित करती है। भारत के गाँवों में जो सामाजिक संघर्ष है, इनके पीछे सुदृढ़ सामाजिक राजनीतिक संगठन, दीर्घकालिक रणनीति, नेतृत्व की प्रतिबद्धता, स्पष्ट दिशा दर्शन और नियोजित कार्यक्रमों का सर्वथा अभाव स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। ऐसे संघर्षों में सम्मिलित जनसामान्य के मध्य अनुशासन तथा वैचारिक समर्पण की मात्रा भी अत्यल्प ही प्रतीत होती है। शोषित, पीड़ित, दलित और दमित वर्ग के लोग अन्याय और अत्याचार का प्रतिकार करना तो चाहते हैं, करते भी हैं, लेकिन शीघ्र ही इस कार्य में वे स्वयं को अलग-थलग महसूस करने लगते हैं। उन्हें इसके लिए स्थानीय प्रतिनिधि राजनीतिक संस्थाओं अथवा जनप्रतिनिधियों से कोई अपेक्षित सहयोग नहीं मिल पाता है। आज के परिवेश में उसी व्यक्ति की आवाज सत्ता प्रतिष्ठान तक पहुँच पाती है, जो स्थापित व्यवस्था के मानकों की परवाह किये बगैर बोलता है या संवैधानिक मर्यादाओं की धज्जियाँ उड़ाते हुए अपनी आवाज सत्ता शीर्ष तक पहुँचाने की पहल करता है। नैतिक एवं संवैधानिक साधनों के माध्यम से उठी जनता की आवाज सत्ता के गलियारे में दब जाती है या दबा दी जाती है।

भारत की सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियों का यदि समकालीन सन्दर्भों में निष्पक्ष विश्लेषण किया जाय तो यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि देश के अन्दर ही दो तरह की राष्ट्रीयता हो गयी है। पहला वह जो अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजियत की

भावना से ओत-प्रोत है और जो शहरी संगठित क्षेत्र के रूप में अपने को स्थापित किये हुए है। यह शहरी वर्ग तथाकथित विकसित देशों की तर्ज पर राष्ट्र के समस्त संसाधनों को अपने अधिकार में रखना चाहता है। दूसरा वह भारत, जिसकी अर्थव्यवस्था तेजी से टूटती जा रही है। यह ग्रामीण भारत, जो अपने जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा करने में हॉफ रहा है तथा स्वतंत्रता, समानता अधिकार और न्याय जैसे शब्द उसके लिए मजाक बनकर रह गये हैं।

उद्योगों एवं उद्योगपतियों के संवर्धन के लिए सरकार उदारता पूर्वक खजाने का मुँह खोल देती है। वहीं दूसरी ओर गहरी साजिश के तहत खाद-बीज पर दी जा रही सब्सिडी को बन्द करके किसान को भगवान भरोसे छोड़ दिया गया है। खेती घाटे का सौदा बन गयी है। उद्योगपतियों को अपने उत्पादन की कीमत तय करने का अधिकार है, लेकिन किसान के पैदावार की कीमत पूरी तरह बाजार पर निर्भर है। जिस पर धनाढ्य वर्ग का प्रभुत्व है। जब किसी उद्योग पर संकट आता है तो पूरी सरकार, सम्पूर्ण मीडिया और सम्पूर्ण प्रशासकीय मशीनरी परेशान हो जाती है और उसे तरह-तरह के राहत पैकेज उपलब्ध कराकर उसे बचाया और बढ़ाया जाता है। लेकिन खेती के बर्बादी से बदहाल और परेशान किसान को कहीं से कोई भी मदद नहीं मिलती और न ही कोई उसकी सुधि ही लेता है। अपने जीवन से थका हारा और निराश किसान जब आत्म हत्या करता है तो जनसंवेदना से शून्य सरकार और सरकारी मशीनरी उसकी मौत के लिए अन्य कारण बताते हुए मुर्दे के साथ भी घिनौनी राजनीति का गन्दा खेल खेलती है। सच में आजादी की लड़ाई जिन आदर्शों, मूल्यों, मान्यताओं और उद्देश्यों को ध्यान में रखकर लड़ी गयी। वर्तमान राजव्यवस्था में वे सब के सब बेमानी साबित हो रहे हैं।

भारत के गाँवों में आज न तो चिन्तनशील बद्धिजीवी है, न तो आधुनिक सुविधाएं और न ही अच्छे शिक्षण संस्थान। गाँव में पैदा होने वाले डाक्टर, प्रोफेसर, इंजीनियर एवं प्रशासकीय अधिकारी गाँव छोड़कर शहरों में बसते जा रहे हैं। स्थानीय सम्पन्न एवं प्रभावशाली लोगों को राष्ट्रीय राजनीतिक-आर्थिक शक्तियों का प्रतिनिधि बनाकर ग्रामीण जनता को वास्तविक और लोकहित के सवालों से विमुख किया जा रहा है। वास्तव में हमने एक ऐसी लोकशाही कायम कर ली है, जो केवल राजनीतिक दलों और चुनावों तक ही सीमित है। इससे आम जन में भीषण असन्तोष है। उसका राजनीतिक व्यवस्था से विश्वास समाप्त होता जा रहा है। (कोठारी, 1996, 12) आज गाँव उजड़ रहे हैं और शहर का दायरा विस्तृत होता जा रहा है। लेकिन उजड़ने-बसने की इस प्रक्रिया में केवल उत्कृष्ट प्रतिभा ही अपना स्थान और पहचान शहरी संस्कृति में रचा-बसा पाती है। अधिकांशतः गाँव से रोजी-रोटी की तलाश में गया मजदूर वर्ग शहरी आबोहवा से कभी अपना सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाता और वहाँ के सबसे गन्दे स्थानों पर झुग्गी, झोपड़ी में रहते हुए गाँव से बदतर और जानवरों जैसा जीवन जीने को विवश होता है।

यह बात सही है कि स्वतंत्रता के बाद देश विकास की दिशा में तीव्र गति से आगे बढ़ा है। लोगों के जीवन-स्तर सुधरे हैं, सभ्यता का भौतिक स्वरूप प्रखर हुआ है। लेकिन यह भी उतना ही सही है कि इस अनियोजित और पूर्वाग्रही भौतिक विकास की भारी कीमत भी हमें ही चुकानी पड़ रही है। आज सामाजिक समरसता का ताना-बाना कमजोर पड़ता जा रहा है। असमानता में वृद्धि हुई है, शोषण की जड़ें और अधिक गहरी हुई हैं और उत्पीड़नकारी शक्तियाँ संस्थाबद्ध व सबल हुई हैं। इन समस्त विसंगतियों के पीछे जो कारक प्रमुख रूप से उत्तरदायी हैं वह हैं आमजन के मध्य राजनीतिक संस्कृति की अपरिपक्वता। हमने एक ऐसी राजनीतिक संस्कृति अपने लिए स्थापित कर ली है, जो न तो संवैधानिक व्यवस्था के मूल्यों, मान्यताओं को आत्मसात कर पा रही है और न ही प्रजातांत्रिक मानकों को ही महत्व दे रही है। नागरिकों के सूचना के स्तर, राजनीतिक अभिरुचि, आमजन की राजनीतिक मामलों में सहभागिता तथा राजनीतिक भावोत्पादकता आदि से राजनीतिक संस्कृति का बोध होता है। लेकिन आधुनिक समय में आम जन में इन विशेषताओं का बहुधा अभाव ही पाया जाता है। प्रजातांत्रिक मूल्यों, मानकों एवं प्रक्रियाओं के अनुरूप जनता और जनता के नुमाइन्दों की सोच, संस्कार एवं आचरण का न होना भारतीय राजनीतिक व्यवस्था की प्रमुख चुनौतियाँ हैं।

राजनीतिक व्यवस्था को जनापेक्षी, प्रभावी और सुदृढ़ रूप से तभी स्थापित किया जा सकता है, जब ग्रामीण जनता के सरोकारों और उन सरोकारों को पूरा करने के लिए टोस रणनीति बनाकर उसका प्रभावी क्रियान्वयन सुनिश्चित किया जाय। इसके लिए ग्रामीण समाज को शिक्षित और सजग करने के लिए ग्रामीण शिक्षा व्यवस्था को इस प्रकार व्यवस्थित किया जाना चाहिए, जिससे ग्रामीण परिवेश में पढ़ने वाले बच्चे सक्षम और संस्कारित बन सकें। लोकतांत्रिक व्यवस्था के सम्यक परिचालन के लिए जनता तथा जनप्रतिनिधियों को संस्कारयुक्त शिक्षा से लैस होना आवश्यक है, तभी वह अपनी भूमिकाओं का सही और प्रभावी निर्वहन कर सकेंगे। सरकार की ओर से ऐसी व्यवस्था बनायी जानी चाहिए, जिससे ग्रामीण विकास सम्बन्धी समस्त कार्यक्रमों और योजनाओं तथा उसके वित्तीय प्रबन्धन की पूरी-पूरी जानकारी आमजन को सुगमता पूर्वक हो सके तथा ऐसा वातावरण तैयार किया जाय, जिससे कोई भी नागरिक बिना किसी भय के विकास सम्बन्धी आवंटित धनराशि की वास्तविक स्थिति की जानकारी प्राप्त कर सके। ग्राम पंचायतों द्वारा कम से कम वर्ष में चार बार विकास योजनाओं पर किये गये व्यय का सार्वजनिक प्रकाशन ग्राम स्तर पर कराया जाय। इसके अतिरिक्त गाँवों के विकास में प्रधान से लेकर सांसद तक की प्रत्यक्ष जवाबदेही सुनिश्चित करना, महिलाओं की राजनीतिक सहभागिता को भरपूर सम्मान देना, जातीय एवं साम्प्रदायिक सद्भाव को मजबूत करना तथा ग्रामीण परिवेश में सामुदायिक और सहकारिता की भावना को मजबूती प्रदान करना और स्थानीय स्तर पर आधारभूत संरचना जैसे बिजली, पानी, शिक्षा, सड़क, स्वास्थ्य आदि की सुविधाओं को बेहतर बनाकर ग्रामीण

राजनीतिक संस्कृति को वास्तविक स्वरूप प्रदान किया जा सकता है।

**सन्दर्भ**

शर्मा, ब्रह्मदेव (1997) : *सहभागिता, विक्रेन्दीकरण एवं विकास*, भारतीय लोक प्रशासन संस्थान-नई दिल्ली,

कोठारी, रजनी (1996): *नैतिकता, सामाजिकता और विकास*

त्रिपाठी, एस0पी0एम0(2003): *राजनीतिक अवधारणाएं एवं प्रवृत्तियाँ*, मिश्रा ट्रेडिंग कारपोरेशन, वाराणसी

गाँधी जी पॉलिटिकल एजेण्डा फॉर द ग्लोबल विलेज, *इण्डिया*. सितम्बर 1997